धर्म का स्वरूप

• अजय कुमार उत्तम
'निखिल'
फतेहपुर (उ०प्र०)

धर्म शब्द 'धृ' धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ है धारण करना। महाभारत के अनुसार धारण करने वाले को धर्म कहते हैं। धर्म प्रजा को धारण करता है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः।।

(महाभारत)

आचार (सदाचार) को धर्म का लक्षण माना गया है तथा आचार से ही धर्म को फलने वाला कहा गया है—

आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चरित्रलक्षणः।।
साधूनां च यथा वृत्तमेतदाचारलक्षणम्।।

(महाभारत)

तथा

आचारः फलते धर्मः।

(महाभारत)

आचार तथा धर्म को परस्पर पूरक मानकर आचार को ही परम धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है। 'मनु' के अनुसार वेद तथा स्मृतियों में वर्णित है, कि आचार ही श्रेष्ठतम धर्म है। आत्मज्ञान के अभिलाषी द्विज को इसमें चेष्टारत रहना चाहिए।

आचारः परमो धर्मः श्रृत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः।।

(मनुस्मृति)

धर्म प्रजा को धारण करता है, इस प्रकार सभी प्राणियों की रक्षा भी धर्म ही करता है। जिसका आधार सदाचरण है तथा नैतिक नियम भी इसमें सहायक हैं एवं इसी आधार पर सभी प्राणिमात्र की रक्षा अथवा धारणा होती है।
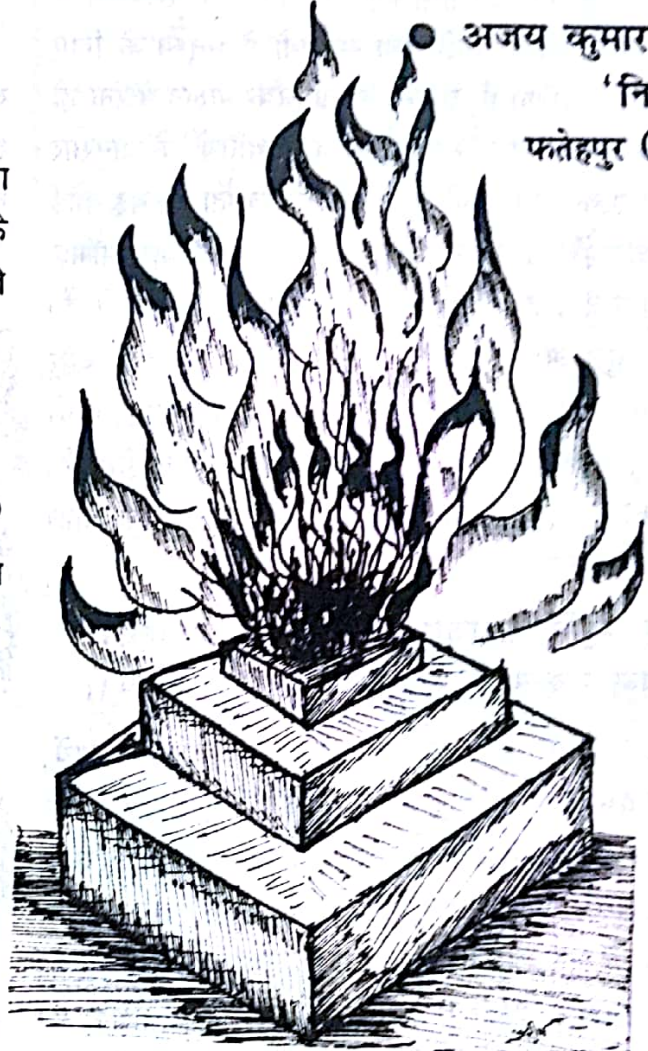
प्रारम्भिक वैदिक 'ऋत' की अवधारणा आर्यों ने विकसित की थी। 'ऋत' सांसारिक व्यवस्था थी, जो कि अपने विरोधी तत्त्व 'अनृत' में भी नैतिक व्यवस्था स्थापित करना चाहती थी। प्रारम्भिक भारतीय आर्य समाज की नैतिक तथा सामाजिक विचारधारा ऋत से प्रभावित थी। ऋत का वास्तविक सम्वन्ध यज्ञ अवस्था तथा नैतिक विचारधारा से सम्बन्धित था। कालान्तर में वह धर्म से सम्बद्ध हो गया। इस प्रकार धर्म का अभिप्राय जीवन की ऐसी व्यवस्था से है, जो कि नैतिक एवं सात्विक आचरण से ही सम्बद्ध है।

धर्म के आधार स्रोत वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मतुष्टि हैं, जो धर्म के साक्षात् चार लक्षण हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।

धर्मसूत्रों में वेदों, स्मृतियों तथा शीलगत व्यवहार को धर्म का मूल स्वीकार किया गया है। वशिष्ठ ने भी मत व्यक्त किया है, कि वेद तथा स्मृतियां मनुष्य के सदाचार से अधिक महत्वपूर्ण हैं। वेदों तथा स्मृतियों में मनुष्य के लिए जो कर्त्तव्य निर्देशित हैं, उनका निष्ठापूर्वक पालन करना ही धर्म है। सदाचार काल, समय तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होकर मनुष्य के गुणों का अंग बनता है। यह कोई आवश्यक नहीं, कि भिन्न देशों तथा वर्गों के आचार अभिन्न हों। प्रत्येक देश तथा जाति के आचार भिन्न-भिन्न होते हैं।

कुछ अर्थों में आचार भिन्न भी हो सकते हैं और अभिन्न भी। यह भी सम्भव है, कि आचारों के नाम पृथक हों, किन्तु उनका मूलभूत अर्थ तथा नियम समान होता है। याज्ञवल्क्य ने श्रुति, स्मृति, सदाचार के साथ सम्यक वांछा का निर्देश किया है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।

सदाचार के अन्तर्गत सत्यता, हितकर प्रथायें, आचरण तथा नैतिक व्यवहार का सन्निवेश होता है। इस प्रकार धर्म का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक तथा प्रशस्त है, जिसमें शुचिता, सत्यता, दया, अनसूया, शुभ के प्रति प्रवृत्ति, दानशीलता, सम्यक् श्रम एवं लोभहीनता स्वभावतः सन्निविष्ट हो जाती हैं।

मानव जीवन में 'सत्य' की महत्ता अत्यधिक है। सत्य से ही व्यक्ति और समाज दोनों की ही उन्नति होती है। सत्य से श्रेष्ठ तो कुछ भी नहीं है—

नास्ति सत्यसमो धर्मो ना सत्यादविद्यते परम्।

सभी वस्तुओं का आधार सत्य है, जो समृद्धि को वर्धित करता है। असत्य से जीवन तथा मन कलुषित तथा समाज दूषित होता है। इसीलिए वेदों में कहा गया है—

'सत्यम् वद धर्मम् चर'

अर्थात् सत्य बोलो तथा धर्म का आचरण करो।' कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी मनुष्य को सत्य का त्याग नहीं करना चाहिए।

माता, पिता तथा गुरु के प्रति श्रद्धा तथा आदर से नत रहना चाहिए। जो अपने माता, पिता तथा गुरु का निरादर करते हैं, वे बहुत बड़े पाप के भागी होते हैं। उनके प्रति आदर तथा श्रद्धा व्यक्त करके ही व्यक्ति लोक व परलोक में विख्यात होता है—

मातापित्रोर्गुरुणां च पूजा बहुमता मम।
इह युक्तो नरो लोकान् यज्ञश्च महदश्नुते।।

जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक माता, पिता तथा गुरु की सेवा करता है, वह प्रमादहीन गृहस्थ तीनों लोकों को विजित कर लेता है तथा अपने शरीर से दैदीप्यमान होता हुआ सूर्यादि देवताओं के समान स्वर्ग में आनन्द प्राप्त करता है—

आश्रम व्यवस्था आर्य विचारधारा के जीवन दर्शन की अद्‌भुत एवं अपूर्व व्यवस्था थी, जिसके माध्यम से मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन अत्यन्त नियमित तथा संयमित किया गया था और वह अपना आत्मिक, नैतिक तथा शारीरिक विकास करता था। मनु ने आश्रम धर्म का पालन सभी (ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य) वर्गों के लिए श्रेयस्कर माना है।

त्रिष्वप्रमाद्यन्नैतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्‌गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते।।

प्राचीन काल से मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को विभिन्न स्तर के साथ अनुशासन, संयम तथा नियम के अन्तर्गत रखा गया था, जिसे आश्रम व्यवस्था कहते थे। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक, चार आश्रम में

विभाजित किया गया— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम।

※ ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत ब्रह्मचारी का यह धर्म निर्दिष्ट था, कि वह गुरु के सान्निध्य में रहकर वेदाध्ययन करे, सूर्योदय के पूर्व शय्या त्यागे, स्नानादि के पश्चात् वह संध्योपासना तथा गायत्री जप करे, निरामिष होते हुए प्रसाधन सामग्री, नारी स्पर्श, संगीत, नृत्य आदि से दूर रहे, इन्द्रियों को वश में रखे, गुरु सेवा करे तथा भिक्षाटन कर अपना तथा गुरु का पोषण करे—

ब्रह्मचारी व्रती नित्यं दीक्षापरो वशी।
परिचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन् वसेत् सदा।।

※ गृहस्थ का यह परम कर्त्तव्य था, कि वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ व काम) का पालन करता हुआ गृहस्थ कार्यों को करे। गृहस्थ के लिए अहिंसा, सत्य वचन, शम, दान आदि उत्तम धर्म माना गया है—

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्।
शमो दानं यथा शक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः।।

※ विभिन्न यज्ञों का सम्पादन गृहस्थ आश्रम के माध्यम से ही सम्भव था। पंच महायज्ञों की पूर्ति तथा संतानोत्पत्ति गृहस्थ आश्रम में रहकर ही सम्पन्न की जाती रही है। देव-ऋण तथा पितृ-ऋण जैसे ऋणों से मुक्ति गृहस्थ आश्रम का अनुपालन करने से ही सम्भव थी।

※ गृहस्थ जीवन से अवकाश लेकर व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। सांसारिक मोह-माया को त्याग कर एकान्त का आध्यात्मिक जीवन वानप्रस्थ आश्रम था। एक प्रकार से वानप्रस्थ आश्रम व्यक्ति के लिए संन्यास का प्रारम्भिक रूप था, जिसमें वह वन में रहकर संयम, त्याग, अनुशासन, धर्माचरण, सेवाभाव, तपश्चर्या आदि का अभ्यास करता था तथा विषय भोग पर नियंत्रण रखता था।

※ चतुर्थ आश्रम संन्यास आश्रम था, संन्यास आश्रम में प्रवेश करने वाला व्यक्ति संन्यासी (अथवा परिव्राजक) कहा जाता था, जो संसार से पूर्ण विरक्त होकर अपने को ईश्वर-भक्ति में लगाता था। उसे काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि को त्याग करना पड़ता था तथा सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान आदि का पालन करना पड़ता था।

युग अथवा काल के अनुरूप भी धर्म की नियोजना की गई, क्योंकि युग अथवा काल के अनुसार धर्म परिवर्तित होता रहता है। नैतिक नियम तथा आदर्श युग के अनुसार बनते-बिगड़ते रहे हैं। सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग जैसे युग अपने-अपने युग धर्म तथा आदर्श को व्यक्त करते हैं—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे चैव यथाशक्ति कृता इव।।

(महाभारत)

'सतयुग' तप धर्म के लिए, 'त्रेतायुग' ज्ञान धर्म के लिए, 'द्वापरयुग' यज्ञ धर्म के लिए तथा 'कलियुग' दान धर्म के लिए है। वस्तुतः समाज की नैतिकता, कार्यप्रणाली, आचार-विचार, व्यवहार तथा सांस्कृतिक प्रतिमान में समय के अनुसार परिवर्तन होता रहता है, जिससे युग धर्म प्रभावित होता है। इससे स्पष्ट है, कि प्रत्येक युग के अपने धर्म हैं, जो दूसरे युग से भिन्न हैं। अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करना तथा परिवार के सदस्यों के प्रति सम्मान तथा यथोचित लगाव रखना ही स्व-धर्म है। दूसरे का धर्म चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, उसकी अपेक्षा अपना धर्म ही अधिक श्रेयष्कर होता है, चाहे वह स्व-धर्म सदोष ही क्यों न हो—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।

(गीता 3/35)

—अजय उत्तम 'निखिल'

धन की तीन प्रधान गतियां हैं—
❖ भोग—जिससे रोग पैदा होता है।
❖ नाश— राज्य, चोर या लूटपाट के द्वारा।
❖ दान—जिससे जीवन में यश, सम्मान, पुण्य एवं मोक्ष प्राप्त होता है।

पुरुषार्थ–चतुष्ट्य में अर्थ का द्वितीय स्थान है। अर्थ का सम्बन्ध धन-सम्पत्ति से होते हुए, भौतिक उपकरण तथा सुख से भी है। वस्तुतः अर्थ का अभिप्राय उन सभी भौतिक साधनों एवं उपकरणों से है, जो व्यक्ति को सांसारिक सुख उपलब्ध कराते हैं।

व्यवहारिक दृष्टि से देखा जाए, तो मनुष्य की आर्थिक एवं भौतिक आवश्यकतायें अर्थ के माध्यम से ही पूर्ण होती हैं। अतः अर्थ से तात्पर्य उन सभी भौतिक वस्तुओं तथा साधनों से है, जो व्यक्ति की सुख-सुविधा में प्रयुक्त होते हैं। बृहस्पति ने अर्थ को जगत का मूल स्वीकार किया है —

"धनं मूलं जगत्"

अर्थशास्त्र में इसे प्रधान तत्त्व निरूपित किया गया है —

अर्थ एव प्रधानः इति कौटिल्यः
अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति

नीति शतक के अनुसार धनी व्यक्ति अच्छे कुल तथा उच्च स्थिति का माना जाता है। वह पण्डित, वेदज्ञ, वक्ता, गुणज्ञ तथा दर्शनीय माना जाता है —

यस्याति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवानगुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वेगुणाः कांचनमाश्रयन्ति।।

मनुष्य को अपने जीवन में अनेक प्रकार के कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। यह अर्थोपार्जन धर्म के माध्यम से ही होना चाहिए,

ऐसा शास्त्रों में कहा गया है। साधारणतः व्यक्ति सुख-सुविधा, धन-ऐश्वर्य का आकांक्षी रहता है। ऋग्वैदिक युग के आर्य भी भौतिक सुख-सुविधाओं के प्रति जागरूक थे, जैसी कि यह भ्रामक धारणा पश्चिमी विद्वानों तथा उनके चाटुकार भारतीय विद्वानों ने फैलायी है, कि 'भारतीय आर्यों को भौतिक सुख सुविधाओं का ज्ञान नहीं था तथा वे मात्र आध्यात्मिक उन्नति के लिए ही प्रयत्नशील रहते थे।'

—यह धारणा पूर्णतः निराधार है। भारतीय आर्य भी धन-सम्पत्ति, गाय-अश्व इत्यादि की वृद्धि के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे। इस प्रकार का भौतिक सुख व सुविधा अर्थ से ही सम्भव है।

अतः अर्थ का अभिप्राय विस्तृत है — यह सुख सुविधा का साधन है, जो व्यक्ति को भौतिक सुख तथा आनन्द प्रदान करने में सहायक होता है। व्यक्ति में प्राप्त करने की प्रवृत्ति की तुष्टि ही अर्थ है। ऐसी स्थिति में जीवन की समस्त सुविधायें, आर्थिक कामनायें तथा भौतिक सुख अर्थ से सम्बन्धित हैं, जिनकी प्राप्ति अर्थ के माध्यम से ही सम्भव है। परिवार के पोषण एवं उसे समृद्ध तथा उन्नतिशील बनाने में अर्थ का महत्वपूर्ण योगदान है।

गृहस्थ जीवन के विभिन्न धार्मिक कार्यों व कर्त्तव्यों की पूर्ति अर्थ के द्वारा ही सम्भव हो पाती है। अतः अर्थ के माध्यम से व्यक्ति जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथा अपने जीवन को सुखमय बनाने की चेष्टा करता है। स्पष्ट है, कि अर्थ सामाजिक लक्ष्य-प्राप्ति का साधन है, जिससे भौतिक सुख की प्राप्ति होती है।

इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य तथा राजा जनक का प्रसंग स्मरणीय है —

''एक बार जब याज्ञवल्क्य राजा जनक के यहां पहुंचे तब जनक ने उनसे पूछा — आपको धन और पशु अथवा शास्त्रार्थ और विजय चाहिए?

उन्होंने उत्तर दिया — मुझे दोनों चाहिए।''

निश्चय ही याज्ञवल्क्य की दृष्टि में अर्थ का भी महत्त्व था।

भारतीय शास्त्रकारों ने अर्थ की महत्ता और आवश्यकता पर समान बल दिया है। **महाभारत** में कहा गया है — 'अर्थ उच्चतम धर्म है। प्रत्येक वस्तु उस पर निर्भर करती है। अर्थ सम्पन्न लोग सुख से रह सकते हैं। अर्थहीन लोग मृतक समान हैं। किसी एक के धन का क्षय करते हुए, उसके त्रिवर्ग को प्रभावित किया जा सकता है।'

अर्थ को काम तथा धर्म का आधार माना गया है। इससे स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त होता है। धर्म स्थापन के लिए अर्थ अनिवार्य है, क्योंकि इसी से प्राप्त सुविधा के द्वारा धार्मिक कृत्य किये जा सकते हैं —

धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वंप्रतिष्ठितम्।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता येत्वधना नराः।।
ये धनादपकर्षन्ति नरं स्व बलमस्थिताः।
ते धर्मार्थ कामं च प्रविध्नन्ति नरं च तम्।।

जो धन से अनादृत है, वह धर्म से भी, क्योंकि समस्त धार्मिक कार्यों में धन की अपेक्षा की जाती है। अर्थ विहीन व्यक्ति ग्रीष्म की सूखी सरिता के समान माना गया है —

धनात् स्त्रवनि धर्मो हि धारणाद्वेति निश्चयः।
अकर्माणं मनुष्येन्द्र ते सोमान्तकरः स्मृतः।

अर्थ के बिना जीवन-यापन मनुष्य के लिये असम्भव है —

प्राणयात्रापि लोकस्य
बिना ह्यर्थं न सिध्यति।

बृहस्पति के अनुसार अर्थ सम्पन्न व्यक्ति के पास मित्र, धर्म, विद्या, गुण क्या नहीं होता। दूसरी ओर अर्थहीन व्यक्ति मृतक और चाण्डाल सदृश है। इस प्रकार अर्थ ही जगत का मूल है।

एक बार किसी संन्यासी योगी से एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया — ''महाराज! आप तो सर्वथा वीतरागी और निस्पृह हैं, फिर भी

अर्थ का अभिप्राय विस्तृत है— यह सुख सुविधा का साधन है व्यक्ति में प्राप्त करने की प्रवृत्ति की तुष्टि ही अर्थ है। ऐसी स्थिति में जीवन की समस्त सुविधायें, आर्थिक कामनायें तथा भौतिक सुख अर्थ से सम्बन्धित हैं, जिनकी प्राप्ति अर्थ के माध्यम से ही सम्भव है।

आप लक्ष्मी (धन, अर्थ) को इतना अधिक महत्व क्यों देते हैं?''

योगी ने स्नेह से कहा — ''वत्स! तुम्हारी बात सत्य है, कि मैं लक्ष्मी को अधिक महत्त्व देता हूं और इसका कारण भी है। मेरे इतने गृहस्थ और संन्यासी जो शिष्य हैं, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी तो मेरा दायित्व है। बिना लक्ष्मी के यह सब कैसे सम्भव है? इसलिए संन्यास जीवन में भी लक्ष्मी की पग–पग पर आवश्यकता पड़ती ही है। बिना धन के धर्म की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।''

इससे स्पष्ट है, कि धन की आवश्यकता जीवन में होती ही है।

कौटिल्य ने भी अर्थ को धर्म जितना ही शक्तिशाली व महत्वपूर्ण बताया है तथा काम और धर्म का आधार बताया है —

अर्थ एव प्रधानः इति कौटिल्यः
अर्थमूलो हि धर्मकामाविति।

आपस्तम्ब ने मनुष्य को धर्मानुकूल सभी सुखों का उपभोग करने के लिए निर्दिष्ट किया है। स्पष्ट है, कि व्यक्ति के जीवन में सुख की सर्वोपरि महत्ता है, जिसे प्राचीन विचारकों ने अत्यन्त तर्कपूर्ण भाषा में व्यक्त किया है।

मनु के अनुसार त्रिवर्ग ही श्रेय है, जिसमें अर्थ की अपनी विशेष महत्ता है —

धर्मार्थादुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः।।

स्पष्ट है, कि मनुष्य के जीवन में अर्थ का महत्व धर्म से भी अधिक है, यदि व्यक्ति के पास धन है तभी वह धार्मिक कार्य कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति की भौतिक सुख–सुविधाओं व वस्तुओं के प्रति लालसा रहती है, जो धन के माध्यम से ही सम्भव है, किन्तु व्यक्ति का धन संग्रह धार्मिक रूप से होना चाहिए अधार्मिक रूप से नहीं तथा इसका व्यय भी धर्म सम्मत ढंग से होना चाहिए, न कि अधार्मिक ढंग से।

आधुनिक काल में अर्थ का सञ्चय तथा व्यय दोनों ही अधिकांशतः अधार्मिक ढंग से ही होता है, जो कि पतन की ओर ही ले जाता है। व्यक्ति का अर्थ व्यय भी अधार्मिक कार्यों, जैसे — द्यूत क्रीड़ा, मद्यपान, अप्राकृतिक यौनाचार तथा कामाचार में ही होता है। अर्थ का संग्रह भी अधार्मिक कार्यों जैसे — छल, कपट, लूट, अवैधानिक रूप से आवश्यक वस्तुओं के संग्रह, भिन्न–भिन्न वस्तुओं की भिन्न–भिन्न वस्तुओं में मिश्रण के द्वारा होता है। अधार्मिकता तथा अन्याय से अर्जित भौतिक सुख तथा धन – सम्पत्ति का फल दुःखद होता है तथा धर्म विरुद्ध कार्यों में धन व्यय करना भी निन्दनीय माना गया है।

मनु के अनुसार यदि काम तथा अर्थ धर्म विरुद्ध हैं, तो उनका त्याग कर देना चाहिये —

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोपेतं लोकं विक्रुष्टमेव च।।

अतः अर्थ के निमित किये जाने वाले प्रयास में धर्म की संस्तुति अवश्य ही होनी चाहिए।

काम का स्वरूप

काम कला सम्पूर्ण जीवन का खिलखिलाता हुआ आनन्द है
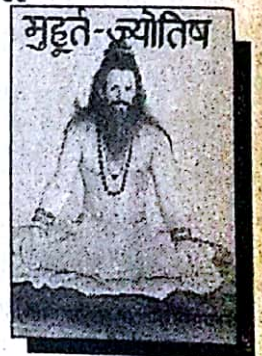
पुरुषार्थ चतुष्टय में काम का तीसरा स्थान है; धर्म, अर्थ एवं काम को त्रिवर्ग की संज्ञा दी गई है। महर्षि वात्स्यायन ने अपने महान ग्रंथ 'कामसूत्र' का प्रारम्भ इन्हीं तीनों की वन्दना से किया है –

।।धर्मार्थ कामेभ्यो नमः।।

(कामसूत्र 1-1-1)

अर्थात् 'धर्म, अर्थ, काम को नमस्कार है।' व्यक्ति की समस्त कामनाएं, वासनात्मक प्रवृत्तियां तथा आसक्ति मूलक वृत्तियां काम के अन्तर्गत ही आती हैं। काम मनुष्य जीवन की सहज प्रवृत्ति है, जो उसके इन्द्रियों के सुख से सम्बन्धित है। स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे के प्रति आकर्षण, मानव समाज व परिवार का उत्थान काम की ही देन है। काम के ही वशवर्ती हो कर व्यक्ति एक-दूसरे से प्रेम करता है, अपने प्रियजनों के प्रति आकर्षित होता है, काम के वशीभूत हो कर स्त्री-पुरुष सम्भोग रत होते हैं, काम से ही प्रेरित हो कर मनुष्य स्त्री और संतान

की कामना करता है, सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होता है। एक दृष्टि से देखा जाय, तो संतान की अभिलाषा, परिवार एवं वंश की वृद्धि तथा पितृ ऋण से मुक्ति काम के द्वारा ही सम्भव है।

वस्तुतः काम में कामना एवं वासना दोनों का ही मिश्रण है। कामना एवं वासना मनुष्य की प्रवृत्तियों में प्रमुख हैं, जो उसके मन को उद्वेलित करती हैं। **कामना एवं वासना मानव की स्वाभाविक एवं सहज स्थितियां हैं, जिनमें स्नेह, प्रेम, वात्सल्य, अनुराग, सौन्दर्य प्रियता एवं आकर्षण हैं और इन्द्रिय सुख तथा यौन सम्बन्धी इच्छाओं की तृप्ति है।** मानव मन एवं मस्तिष्क की इच्छाएं एवं उनकी तुष्टि कामजन्य ही होती है। महाभारत में भी कहा गया है –

।।सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जिताः।।

(महाभारत शान्ति पर्व 133-10)

अर्थात् 'सम्प्रमोद या आनन्द में लिप्त रहना ही काम है।'

काम का अतिरेक महान दुर्गुण भी है। काम के वशवर्ती हो कर स्वधर्म का त्याग भी उचित नहीं है, ऐसा महाभारत के रचयिता का मानना है। इसीलिए यह कहा जाता है, काम का आचरण धर्म के अनुसार ही हो। महाभारत के रचयिता ने अर्थ को काम तथा धर्म का आधार माना है। समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए काम आवश्यक है। महाभारत के अनुसार –

धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते।
संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः।।

(महाभारत शांति पर्व 123-4)

अर्थात् 'धर्म सदैव ही अर्थ प्राप्ति का कारण है एवं काम अर्थ का फल, लेकिन इन तीनों का मूल कारण है संकल्प एवं संकल्प है विषय रूप।'

कौटिल्य ने भी अपने ग्रंथ में काम को अंतिम श्रेणी में ही रखा है –

।।धर्मार्थ विरोधेन कामं सेवेत्।।

(अर्थशास्त्र 17)

अर्थात् 'बिना धर्म व अर्थ को हानि पहुंचाये काम का सेवन करना चाहिए।' त्रिवर्ग के पालन में काम को मानव का अन्तिम उद्देश्य मान कर यह बताया गया है, कि धर्म तथा अर्थ की प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति को काम प्राप्ति के लिए उद्दत होना चाहिए। मानव जीवन में उसकी अभिलाषाओं का मुख्य स्थान है। इन्हीं मनोवृत्तियों से प्रेरित हो कर, वशीभूत हो कर ही मनुष्य वेदादि धर्म शास्त्रों का अध्ययन-मनन करता है।

मनुष्य की समस्त अन्तर्वृत्तियां 'काम' से ही सञ्चालित होती हैं। इस प्रकार एक दृष्टि से देखा जाय, तो काम के मुख्यतः तीन आधार प्रतीत होते हैं – जैविकीय, सामाजिक एवं धार्मिक।

व्यक्ति अपनी समस्त अभिलाषाओं एवं इच्छाओं की पूर्ति जैविकीय आधार पर ही करता है। इच्छाओं की तृप्ति न होने पर मानव में हीनता, तनाव, क्षोभ, आक्रोश व क्रोध का बीजारोपण होता है तथा नैराश्य की अभिव्यक्ति होती है, जो कि उसके विकास में अवरोधक बनती है। इससे मनुष्य की स्वाभाविक प्रगति भी बाधित होती है। इन्हीं इच्छाओं की तृप्ति से व्यक्ति का तनाव व क्रोध दूर होता है, जो जैविकीय आधार के द्वारा ही सम्भव है।

काम का सामाजिक आधार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। विवाह के माध्यम से पति-पत्नी के सम्बन्ध एवं प्रजनन के माध्यम से पारिवारिक एवं सामाजिक निरन्तरता काम के ही सामाजिक आधार हैं। प्रेम, स्नेह, अनुराग, सौन्दर्य प्रियता से मनुष्य के मन-मस्तिष्क में कोमल भावनायें जाग्रत होती हैं, जिससे उसका व्यक्तित्व निखरता है और उसे अपने सामाजिक दायित्वों का बोध होता है। इस सामाजिक प्रतिबद्धता में पति का पत्नी से, पत्नी का पति से प्रेम होता है, अपनी संतानों के प्रति स्नेह होता है, अपने आत्मीय एवं प्रिय जनों के प्रति अनुराग होता है तथा स्त्री के सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होता है। काम के इस सामाजिक स्वरूप से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है।

काम का धार्मिक आधार व्यक्ति को उसकी इन्द्रियों की तुष्टि एवं अदम्य इच्छाओं से विरत करता है। व्यक्ति

–अजय कुमार उत्तम निखिल

पुरुषार्थ चतुष्टय में 'काम' के प्रति सही एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण की विवेचना करता यह लेख 'श्री अजय कुमार जी' की विद्वता एवं उनके शास्त्र ज्ञान की गम्भीरता से ओतप्रोत है।

आत्मिक उत्थान की ओर अग्रसर हो कर धार्मिक बनता है। मनुष्य का प्रेम, स्नेह, अनुराग एवं आकर्षण उच्चतर अवस्था में ईश्वर के प्रति आकृष्ट होता है, जो मोक्ष का मार्ग है। वह निरन्तर ईश्वर के प्रति अनुरक्त होता जाता है और उसे भोगों के प्रति विरक्ति हो जाती है।

व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं इन्द्रिय परक आनन्द अनुभूति काम के माध्यम से ही होती है। काम के माध्यम से ही उसे सम्भोग सुख व यौन सुख की प्राप्ति होती है। यौन सुख के अतिरिक्त संतान सुख भी व्यक्ति को काम के माध्यम से ही प्राप्त होता है। यद्यपि त्रिवर्ग में काम को तृतीय स्थान प्रदान किया गया है, किन्तु मनुष्य के जीवन में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। गृहस्थ जीवन की सार्थकता काम के द्वारा सन्तानोत्पत्ति से ही मानी गई है, जो कि उसे स्वर्गिक व ऐहिक सुख प्रदान करता है।

कौटिल्य के अनुसार –

समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धनम्।
एकोहित्वासेवितोधर्मार्थकामान्
आत्मात्मानमितरौ च पीडयति।।

(अर्थशास्त्र 17)

अर्थात् 'परस्पर एक-दूसरे के आश्रित धर्म, अर्थ तथा काम स्वरूप त्रिवर्ग का समान भाव से सेवन करना चाहिए, क्योंकि धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों में एक का अधिक सेवन अन्य दो को पीड़ा पहुंचाता है।'

काम का धार्मिक आधार व्यक्ति को उसकी इन्द्रियों की तुष्टि एवं अदम्य इच्छाओं से विरत करता है।
व्यक्ति आत्मिक उत्थान की ओर अग्रसर हो कर धार्मिक बनता है। मनुष्य का प्रेम, स्नेह, अनुराग एवं आकर्षण उच्चतर अवस्था में ईश्वर के प्रति आकृष्ट होता है, जो मोक्ष का मार्ग है। वह निरन्तर ईश्वर के प्रति अनुरक्त होता जाता है और उसे भोगों के प्रति विरक्ति हो जाती है।

व्यक्ति सर्वाधिक काम-वासना की ओर ही अधिक झुकता है, काम से ही सृजन का कार्य होता है, जिसके अन्तर्गत सौन्दर्य बोध, आकर्षण एवं अभिव्यक्तिकरण हैं। काम से ही रचनात्मक अभिव्यक्तिकरण का प्रारम्भ होता है, जिससे कला का जन्म होता है। मनुष्य के अन्तस में चित्रित सौन्दर्य व विभिन्न अभिव्यक्तियों का इसमें अंकन होता है। काम प्रवृत्तियों के द्वारा ही वह कला की विभिन्न विधाओं यथा नृत्य, गायन, चित्रकला, वादन आदि की ओर आकर्षित होता है। वह इन कलाओं को अपने माध्यम से विभिन्न रूपों में व्यक्त करता है, चित्रों को वह अपने ढंग से रूपायित करता है, काव्य को वह अपने शृंगारिक भावों से पृथक रूप देता है, अपनी सृजनात्मक शक्तियों को वह कला के विकास में, स्व व्यक्तित्व निर्माण के लिए उपयोग करता है।

काम मात्र सम्भोग सुख या यौन सुख नहीं है, क्योंकि विषय लिप्तता व विलासिता से जीवन का सुगम व स्वस्थ विकास नहीं होता।

विषयों के सर्वदा चिन्तन से भोग में रुचि उत्पन्न होती है, जिससे काम-वासना का जन्म होता है। काम तृप्ति में बाधा से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से मति भ्रम, मति भ्रम से बुद्धि नाश तथा बुद्धि नाश से मनुष्य का सर्वनाश होता है।

गीता में भी यही कहा है –

ध्यायतो विषयान्पुंसः
सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः
कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति संमोहः
संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो
बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

(गीता 2/62-63)

अतः उचित यही समझा गया, कि काम-वासना को धर्म या सदाचरण अथवा आध्यात्मिक रूप में रखा जाय। धर्म तथा अध्यात्म का आवरण दे कर काम की गम्भीरता तथा धर्मनिष्ठता बताने की चेष्टा की गई एवं संकुचित तथा सीमित काम विकारों के स्थान पर प्रशस्त एवं व्यापक विषय सुख की अवधारणा की गई। वस्तुतः आकर्षण, आसक्ति एवं अनुराग की प्रवृत्ति कामोत्तेजना की ओर उन्मुख करती है, जिससे व्यक्ति काम की ओर प्रवृत्त होता है।

काम सुख को प्रधान सुख माना गया है। इसमें धर्म को सम्मिलित कर लेने पर वह अमर्यादित व असांस्कृतिक नहीं बनता। मानव जाति का उत्थान, प्रसार, विस्तार सभी कुछ काम पर ही आधारित है।

काम गृहस्थ जीवन का आधार है, क्योंकि काम के वशीभूत हो कर वह विवाह करता है, पत्नी प्राप्त करता है, काम के वशीभूत हो कर ही वह वंश वृद्धि के लिए संतानोत्पत्ति करता

है। काम के सेवन से ही व्यक्ति की अतृप्त इच्छाएं व काम जनित अभिलाषाएं पूर्ण होती हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण तथा उसकी विभिन्न मन:स्थितियों का आकलन काम के विवेकशील धरातल पर ही होता है। काम के द्वारा ही व्यक्ति के सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन का विकास होता है।

गीता में कहा गया है, कि स्वाधीन अन्त:करण वाला पुरुष राग, द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ अन्त:करण की प्रसन्नता प्राप्त करता है —

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।

(गीता 2/64)

धर्म से संचालित और उस पर अवलम्बित काम की ही प्रशंसा की गई है, धार्मिक काम की ही प्रशंसा की गई है। अधार्मिक काम सदैव से ही निन्दनीय रहा है, धर्महीन काम अनुसरण कर्ता की अपनी बुद्धि को समाप्त कर देता है तथा विपरीत परिस्थितियों में वह अपने शत्रु द्वारा निन्दा का पात्र बनता है —

धर्मार्थावभिसंत्यज्य संरम्भं योऽनुमान्यते।
हसन्ति व्यसने तस्य दुर्हृदो नचिरादिव।।

(महाभारत उद्योग पर्व 128-30)

धर्महीन काम में लिप्त रहने वाले व्यक्ति की स्थिति अत्यन्त ही शोचनीय होती है, ऐसा विषयी व विलासी व्यक्ति न तो परिवार के योग्य होता है और न ही समाज के योग्य, धर्म व अर्थ का उपार्जन भी ऐसे व्यक्ति के वश में नहीं होता है।विवेकशील व बुद्धिमान व्यक्ति काम का अनुगमन काफी चिन्तन-मननं व तर्क-वितर्क करने के उपरान्त करता है, वह सदैव ही धार्मिक परिप्रेक्ष्य में काम को सम्पन्न करता है। शास्त्रकारों का विचार है, कि बिना धर्म के अर्थ व काम का सम्पादन नहीं हो सकता है।

मत्स्य पुराण का कथन है, कि धर्महीन काम बन्ध्या के सदृश्य है —

।।धर्महीनस्य कामार्थौ बन्ध्यासुतसमौ ध्रुवम्।।

(मत्स्य पुराण 241-8)

पुरुषार्थ के लिए बुद्धि व विवेक वांछनीय है। जिसकी इन्द्रियां वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होती है।

।।वशेहि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

(गीता 2-61)

बुद्धि के सुस्थिर होने पर ही व्यक्ति अच्छे कार्य कर सकता है। भ्रमित व अस्थिर बुद्धि का व्यक्ति विषय लोलुपता में ही लगा रहता है, जिसके फलस्वरूप उसे पुरुषार्थ प्राप्ति में बाधाओं का सामना करना पड़ता है।

जीवन को सुस्थिर व सुगम बनाने के लिए भारतीय मनीषियों ने धर्म पूर्वक निष्पादित काम को ही हितकारी बताया। धर्महीन काम परिवार व समाज के लिए तथा स्वयं की उन्नति के लिए बाधक है। नैतिकता, सदाचारिता व चरित्र निर्माण के लिए ही काम पर धर्म का अंकुश लगाया गया है।

कामदेव—रति साधना

कामदेव तथा रति को काम का श्रेष्ठतम स्वरूप माना गया है, जिनकी साधना करने का अर्थ है, कि जीवन में एक ऐसी ऊर्जा का सञ्चार, जो जीवन में आनन्द, मस्ती, जोश, नवयौवन पुन: प्रदान कर देती है।

गृहस्थ जीवन का निर्वाह कर रहे साधकों के लिए तो यह साधना वरदान स्वरूप है, क्योंकि इस साधना को सम्पन्न करने के बाद उनका जीवन छलछलाहट से, प्रसन्नता से सराबोर हो जाता है।

यह साधना 6.6.97 को या किसी भी रविवार को सम्पन्न करें। साधना में श्वेत वस्त्र धारण करें।

किसी प्लेट में कुंकुम से स्वस्तिक बनायें, उस पर '**कामदेव रति यंत्र**' का स्थापन करें। यंत्र स्थापन के पश्चात् घी का दीपक लगायें तथा अक्षत व पुष्प चढ़ायें। फिर '**सफेद हकीक माला**' से निम्न मंत्र का 75 माला मंत्र जप करें —

मंत्र

।।ॐ क्लीं कामाय क्लीं ॐ।।

OM KLEEM KAMAY KLEEM OM

मंत्र जप समाप्त होने पर यंत्र पर चढ़े पुष्पों को उठा कर किसी वृक्ष की जड़ में डाल दें तथा यंत्र व माला को नदी में प्रवाहित कर दें। **न्यौछावर—260/-**

मोक्ष का स्वरूप

मनुष्य के पुरुषार्थ की अन्तिम तथा चरम परिणति मोक्ष है। अपने जीवन के समस्त कार्य सात्विकता तथा सफलता पूर्वक सम्पन्न करने के पश्चात मनुष्य वृद्धावस्था में इस चरम उद्देश्य की प्राप्ति में संलग्न होता है। जन्म तथा मरण के बन्धन से छुटकारा पाना तथा इस संसार के आवागमन से मुक्ति ही मोक्ष है। 'मोक्ष' शब्द की उत्पति मुच् धातु से हुई है, जिसका अभिप्राय है मुक्त करना अथवा स्वतंत्र करना। अतः मोक्ष का अर्थ है, आत्मा की मुक्ति। मोक्ष आध्यात्मिक जीवन की अंतिम तथा उच्चतम स्थिति मानी जाती है। मनुष्य का धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होकर तभी प्रकाशमान होता है, जब उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। जीवन को पूर्णरुपेण धार्मिक तथा आध्यात्मिक बना पाना अत्यन्त कष्टप्रद तथा दुर्गम होता है। उसके लिए मानवीय प्रवृत्तियों का एकनिष्ठ होना आवश्यक है। ऐसी मानवीय प्रवृत्तियां विभिन्न प्रकार की होती हैं, भावनात्मक, आध्यात्मिक, बौद्धिक, आर्थिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार की परस्पर अनुकूल और विरोधी प्रवृत्तियां मानव के व्यक्तित्व को आवृत्त किए रहती हैं तथा उस पर अपना पृथक-पृथक प्रभाव बनाए रखती हैं। इन प्रवृत्तियों से छुटकारा मिलने पर ही मनुष्य को निवृत्ति का मार्ग मिल पाता हैं। मनुष्य में जब सहजता, स्वाभाविकता, आत्मचिंतन, आध्यात्मिकता, बौद्धिकता का उदय होने लगता है, तब वह निवृत्ति के मार्ग की ओर उत्कंठित होता है। निश्चय ही ये भावनाएं मनुष्य को मानवीय सुख की ओर उत्प्रेरित करती हैं तथा भौतिक अभिव्यक्तियों और आकांक्षाओं का सहजता पूर्वक प्रतिरोध करती हैं। प्रवृत्तियों का यह संघर्ष मनुष्य के मन में चला करता है तथा उसका मन इन संघर्षो के मध्य चलता रहता है, वर्षों इसी द्वन्द्व में अटका रहता है। जब उसमें ज्ञान, बौद्धिकता तथा विवेकशीलता का उदय होता है तब वह प्रवृत्तियों से विलग होने की चेष्टा करता हैं, उसका यही प्रयास निवृत्ति की ओर झुकाव का द्योतक है। व्यक्ति धीरे-धीरे संयमित और नियमित वृत्तियों के द्वारा निवृत्ति मार्ग पर चल कर आध्यात्मिक जीवन को स्वीकारता है। आध्यात्मिकता तथा सात्विकता के द्वारा वह मोक्ष की ओर ही प्रवृत्त होता है। धार्मिक तथा आध्यात्मिक आधार पर वह आत्मनिष्ठ तथा एकनिष्ठ होकर परमात्मा अथवा परब्रह्म की प्राप्ति की ओर बढ़ता है। मोक्ष प्राप्ति का उसका उद्देश्य जीवन तथा मृत्यु के बन्धन से तथा संसार के आवागमन के भंवर से मुक्ति पाना, पूर्णरूपेण आध्यात्मिक तथा धार्मिक होने पर ही सम्भव कही गई है। आत्मा तथा परमात्मा का तादात्मय ही मोक्ष तथा परमानन्द की चरमानुभूति है। जीव ब्रह्म में लीन होकर तथा आवागमन के बन्धन से मुक्त हो कर मोक्ष को प्राप्त करता है। आत्मा सीमित है तथा परमात्मा असीम। इसकी प्राप्ति की एकात्मकता स्थापित करना है। अतः मोक्ष परम ज्ञान और आनन्द की वह अवस्था है, जिसमें जीव (आत्मा) अपने परमब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य के जीवन का अंतिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है, मोक्ष की प्राप्ति उसे उसी स्थिति में हो सकती है जब उसमें सात्विकता का विकास हो जाए। सत्व, रज एवं तम प्रवृत्तियां मनुष्य को प्रभावित करती हैं। जब मनुष्य की बुद्धि सात्विक वृत्ति से आविल होती है तब वह विभिन्न विरोधी प्रवृत्तियों से विलग हो कर सात्विकता के मार्ग का अनुसरण करती है। यही सात्विक मार्ग मनुष्य को मोक्ष की ओर आकृष्ट करता है। सांख्यशास्त्री कहते हैं, कि व्यक्ति पूर्णरुपेण अकर्त्ता एवं अनभिज्ञ है। ऐसी परिस्थितियों में क्रियाओं का कर्त्ता पुरुष न हो कर प्रकृति होती है। मनुष्य की बुद्धि तथा मन प्रकृति के द्वारा संचालित होते हैं, तो प्रकृति माया है, जब मनुष्य को सात्विक ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब उस पर से माया का आवरण हट जाता है और उसकी मुक्ति या कैवल्य की स्थिति हो जाती है। यही प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध है।

गीता के अनुसार जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा किया हुआ देखता है अर्थात् इस बात को समझ लेता है, कि प्रकृति से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुणों में देखते है तथा आत्मा का अकर्त्ता देखता है वही वास्तविक रूप में देखता है।

श्री अजय कुमार उत्तम पत्रिका के लिए निरन्तर अपने तथ्यपरक लेख भेज कर जिस प्रकार से संस्था के लिए कार्य कर रहे है, वह सराहनीय है। प्रस्तुत लेख में उन्होंने भारतीय संस्कृति की उच्चता को स्पष्ट किया है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।

वस्तुतः प्रकृति तथा पुरुष के परस्पर सम्बन्ध में ही सम्पूर्ण जगत की स्थिति है। यह गीता का कथन है –

क्षेत्रक्षेत्रसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।

व्यक्ति जब प्रकृति की शोभा एवं उसकी सुन्दरता पर मुग्ध एवं मोहित हो जाता है तब वह आध्यात्मिक एवं उच्चकोटि के ज्ञान द्वारा इसकी वास्तविक स्थिति को ज्ञात कर लेता है तब वह उसके साथ तादात्मय स्थापित करता है और प्रकृति उसकी सहचरी बन जाती है ब्रह्म अथवा परमात्मा से आत्मा का सम्मिलन ही मोक्ष है।

आत्मज्ञान की पूर्णता ही ब्रह्म की निकटता है, जो कि मोक्ष भी है। अन्तस की अज्ञानता तथा भ्रामकता मनुष्य के लिए ब्रह्म प्राप्ति में अवरोधक है। अतः इस अज्ञानता का जब नाश हो जाता है तब वास्तविक अर्थों में ज्ञान की प्राप्ति होती है और इसे ही मोक्ष कहा जाता है। जो व्यक्ति निश्चयपूर्वक अन्तरात्मा में ही सुख पाता है ऐसा योगी परब्रह्म के साथ एकीभूत होकर शान्त ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है –

योऽन्तः सुखान्तरायस्त थान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।

काम, क्रोध से रहित, विजित चित्त पर ब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर चुके ज्ञानी पुरुषों के लिए सब ओर से शान्त परब्रह्म, परमात्मा है –

काम क्रोध वियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।

अपनी दुष्प्रवृतियों तथा अज्ञानताओं से रहित होने की सच्ची अनुभूति होती है और तभी परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इसके साथ ही अपनी इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर नियंत्रण रखने वाले व्यक्ति को मोक्ष स्वतः ही प्राप्त हो जाता है –

यतेन्द्रियमनो बुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।

इस प्रकार ब्रह्म को जानने वाला व्यक्ति स्वयं ही ब्रह्म हो जाता है –

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।

मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है, कि वेदों का ज्ञान प्राप्त करें, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न करें, शक्ति के अनुरूप यज्ञों का अनुष्ठान करें, तत्पश्चात् मोक्ष का निवेशन करें –

अधीत्यविधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितोयज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्।।

मनु के अनुसार तीनों ऋणों – देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण को पूर्ण करके ही व्यक्ति को अपना मन मोक्ष में लगाना चाहिए। इन ऋणों का शोध किये बिना मोक्ष का सेवन करने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है –

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः।।

विष्णु पुराण के अनुसार सभी कार्यों अर्थात सभी आश्रमों के कार्य सम्पादित करने के पश्चात ही ब्रह्मलोक अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है –

मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तं। शुचिस्सुखं कल्पित बुद्धियुक्तः।
अविन्धनं ज्योतिरेव प्रशांतः स ब्रह्मलोकं श्रयते द्विजातिः।।

वायु पुराण में कहा है, कि अंतिम आश्रम का अनुवर्ती व्यक्ति शुभ तथा अशुभ कर्मो का त्याग कर जब अपना स्थूल शरीर छोड़ता है तब वह जन्म–मृत्यु एवं पुनर्जन्म से पूर्णतः मुक्त हो जाता है –

अवस्थितो ध्यानरतिः जितेन्द्रियः।
शुभाशुभे हित्य च कर्मणी उभे।।
इदं शरीरं प्रविमुच्च शास्त्रे।
न जायते म्रियते वा कदाचित्।।

ब्रह्माण्ड पुराण तथा वायु पुराण में उल्लेख मिलता है, कि मोक्ष प्राप्ति के लिए यति धर्म का पालन करते हुए मित्र ज्योति के पुत्रों ने अपने को ब्रह्म में लीन किया था –

यतिधर्मवात्येह ब्रह्मभूयाय ते गताः।

कर्म तथा ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने के लिए एक अन्य साधन भक्ति का मार्ग है। गीता में इस विषय को लेकर विशद चर्चा की गई है तथा भक्ति को अपेक्षाकृत श्रेयस्कर माना गया है। भक्ति मार्ग में मनुष्य ब्रह्म के सगुण रूप की परिकल्पना करके उपासना करता है और अपने को पूर्ण रूप से ब्रह्म की सेवा में समर्पित कर देता है। ब्रह्म ही जीव का सब कुछ हो जाता है – स्वामी, गुरु, माता, पिता, सखा आदि। उसके साकार रूप की उपासना होती है तथा उस तक पहुंचने के लिए अपार भक्ति की जाती है। मनुष्य अपनी सब इच्छाओं को त्याग कर तथा फल की आकांक्षा किए बिना अपने को ईश्वर के प्रति उत्सर्ग कर देता है, ऐसी स्थिति में वह सुख–दुख, ऊंच–नीच, अच्छा–भला तथा जन्म–मृत्यु सभी भूल जाता है, यही सच्ची भक्ति है।

मोक्षाकांक्षी व्यक्ति के लिए रागद्वेष, लोभ–मोह पर नियंत्रण, अहिंसा का पालन अत्यन्त ही आवश्यक है। इन कर्त्तव्यों का पालन करने से वह अपनी आत्मा को शुद्ध, उदात्त एवं दिव्य बना कर ही मोक्ष की ओर अग्रसर हो सकेगा। विष्णु पुराण में भी कहा गया है, कि मोक्ष के आकांक्षी व्यक्ति को शत्रु–मित्र सभी से समभाव रखते हुए, कभी किसी प्राणी से द्रोह न करें। मत्स्य पुराण काम के त्याग पर भी बल देता है। मनु ने भी कहा है –

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरोस्पृहः।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमांगतिम्।।

(मनुस्मृति 6–96)

अर्थात् 'स्पृहाहीन समभाव वाला व्यक्ति निश्चित रूप से आत्मज्ञान प्राप्त करता है एवं अपने लक्ष्य प्राप्ति में सफल होता है। अन्ततः उसे परमगति अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता ही है।'

अजय कुमार उत्तम 'निखिल' ने अप्सरा उर्वशी के पौराणिक आख्यान को जिस प्रकार से अध्यात्म से संयुक्त कर लेख सुधि पाठकों के लिए लिख कर भेजा है, इसी से इनके पौराणिक ज्ञान, विद्वता एवं सशक्त लेखनी का परिचय स्वतः मिल जाता है... लेख की प्रत्येक पंक्ति के नीचे जैसे लेखक ने अपने हृदय की धड़कनें बिछा दी हों... एक रस परक मधुर पौराणिक आख्यान...

प्राचीन काल से ले कर आज तक उर्वशी ने अपने रूप यौवन के बल पर योगियों, ऋषियों तथा साधकों के हृदय पर शासन किया है। प्रत्येक योगी, ऋषि तथा साधक की यही इच्छा रहती है, कि वह अपने जीवन काल में एक बार उर्वशी का साहचर्य अवश्य ही प्राप्त करे।

सभी 108 अप्सराओं में सर्वप्रमुख अप्सरा उर्वशी है। यद्यपि सभी अप्सराएं रूप एवं यौवन से परिपूर्ण हैं, किन्तु जैसा रूप एवं यौवन उर्वशी का है, वैसा किसी भी अप्सरा का नहीं है और इसी रूप एवं यौवन के बल पर बड़े से बड़े योगी को भी अपने पीछे भागने के लिए आतुर कर दिया है। अन्य अप्सराओं की तुलना में इसकी साधना अपेक्षाकृत कुछ कठिन ही है। अन्य अप्सराएं तो शीघ्रता से सिद्ध की जा सकती हैं, किन्तु उर्वशी को सिद्ध करना कुछ कठिन ही है और कठिन हो भी क्यों नहीं? यह सभी अप्सराओं से कुछ विशिष्ट जो है?

उर्वशी की उत्पत्ति की कथा भी कुछ कम रोचक नहीं है। प्राचीन काल में नर और नारायण नामक दो ऋषि थे। ये दोनों ऋषि भगवान श्री विष्णु के अंशावतार थे। एक बार नर-नारायण हिमालय पर्वत पर गए तथा घूमते-घूमते वे बद्रिकाश्रम नामक पवित्र स्थान पर जा पहुंचे। वहां के वातावरण को देख कर उन ऋषि द्वय का मन तपस्या में रम गया और पूरे एक हजार वर्षों तक उनकी तपस्या निर्बाध गति से चलती रही। उनके तपजानत तेज से सम्पूर्ण चराचर जगत संतप्त हो उठा।

जैसा कि सदैव होता है, इन्द्र के मन में नर-नारायण के प्रति द्वेष उत्पन्न हो गया। इन्द्र ने सोचा, कि अब मुझे क्या करना

उर्वशी
प्रत्येक के हृदय की धड़कन है

— अजय कुमार उत्तम 'निखिल'

चाहिए ? मुझे ऐसे कौन से उपाय करने चाहिए, जिससे इन दोनों ऋषियों की तपस्या भंग हो जाये ? ऐसा सोच कर इन्द्र अपने ऐरावत पर सवार हो कर उन दोनों ऋषियों के निकट जा पहुंचा और उनसे कहने लगा — "ऋषि श्रेष्ठों ! मैं तुम्हें उत्तम एवं श्रेष्ठ वर देने के लिए प्रस्तुत हूं, तुम्हारी जो इच्छा हो, उसे मांग लो।"

किन्तु दोनों ऋषियों ने इस पर ध्यान नहीं दिया और अपनी तपस्या में मग्न रहे।

इन्द्र ने खीझ कर अपनी माया फैलायी और मुनियों की तपस्या भंग करने की चेष्टा की, किन्तु उसमें भी सफलता नहीं प्राप्त हुई।

सभी ओर से निराश हो कर इन्द्र ने वसन्त तथा कामदेव को बुलाया और कहा — "कामदेव ! तुम वसन्त तथा रति को साथ ले कर गन्धमादन पर्वत पर जाओ। तुम्हारी सहायता के लिए मैं अप्सराओं को भी साथ भेज रहा हूं। वहीं बद्रिकाश्रम नामक स्थान पर पुराण पुरुष नर–नारायण बैठ कर तपस्या कर रहे हैं। मन्मथ ! उनके निकट पहुंच कर उनके चित्त को कामातुर कर देना परमावश्यक है। अप्सराओं का यह समूह तुम्हारी सहायता करने के लिए प्रस्तुत है। शीघ्र जाओ और उन ऋषियों की तपस्या भंग कर दो।"

इन्द्र के आदेश को सुन कर कामदेव ने वसन्त रति तथा अप्सराओं के दल के साथ प्रस्थान किया। सर्वप्रथम उस पर्वत पर वसन्त का आगमन हुआ। सभी वृक्ष पुष्पों से लद गए, उन पर भौरों की कतारें मंडराने लगीं, आम, पलाश आदि वृक्ष पुष्पों से सुशोभित हो गए, पेड़ों की शाखाओं पर कोयलों का मधुर गान प्रारम्भ हो गया, फूलों से लदी श्रेष्ठ लताएं ऊंचे पर्वतों पर चढ़ने लगीं। प्राणियों में कामवेग सीमा को पार कर गया, उनमें कामोन्माद सा छा गया और वे कामासक्त हो कर कामक्रीड़ा में निमग्न हो गए। पुष्पों की उत्तम गन्ध ले कर दक्षिणी पवन मंद गति से चलने लगा, जिसके स्पर्श होते ही आनन्द का अनुभव होता था।

उस समय ऋषियों का संयम भी शिथिल होने लगा। तत्पश्चात् रति के सहित कामदेव ने अपने पंच बाणों को साथ ले कर अति शीघ्र बद्रिकाश्रम में डेरा डाल दिया। रम्भा और तिलोत्तमा आदि अप्सराएं भी उस पावन बद्रिकाश्रम पर पहुंच गईं। सभी अप्सरायें संगीत, नृत्य व गायन कला में बड़ी प्रवीण थीं, अतः स्वर लय और ताल के साथ गान प्रारम्भ हो गया।

उन मधुर गीतों, कोयलों के मधुर गान और भौरों के गुञ्जन को सुन कर ऋषि द्वय नर और नारायण की समाधि टूट गई। वे आश्चर्यचकित भी हुए, कि असमय इस वसन्त का आगमन कैसे ?

योग बल से ज्ञात हुआ, कि तपस्या से भयभीत इन्द्र ने ही यह सब कुचक्र रचा है, दिव्य अप्सराओं का संगीत भी सुनाई पड़ रहा है, सुगन्धित, शीतल एवं मन को मुग्ध करने वाला पवन शरीर का स्पर्श कर रहा है।

ऋषि द्वय ने विचार किया, कि इन्द्र के षड्यंत्र के अतिरिक्त अन्य कोई कारण इसमें नहीं है।

ऋषि द्वय नर और नारायण इसी प्रकार विचार कर ही रहे थे, कि इतने में ही सारी मण्डली सामने दिखाई दी। उनमें कामदेव प्रमुख था, मेनका, रम्भा, तिलोत्तमा, पुष्पगन्धा, सुकेशी, महाश्वेता, मनोरमा, घृताची, गीतज्ञा, चारुहासिनी, चन्द्रप्रभा, शोभा, विद्युन्माला, अम्बुजाक्षी, कांचनमालिनी के अतिरिक्त अन्य भी बहुत सी अप्सरायें नर–नारायण को दृष्टिगोचर होने लगीं, उन सबकी संख्या सोलह हजार पचास थी।

कामदेव की विशाल सेना को देख कर ऋषि द्वय आश्चर्य में पड़ गए। तदनन्तर वे सभी अप्सरायें उन्हें प्रणाम करके मुनि द्वय के सामने खड़ी हो गईं। वे सभी दिव्य आभूषणों से अलंकृत थीं, दिव्य हार उनके गले की शोभा बढ़ा रहे थे। नारायण ऋषि ने उन अप्सराओं से कहा — "सुमध्यमाओ! तुम लोग सानन्द यहीं ठहरो। तुम सभी अतिथि के रूप में स्वर्ग से यहां आई हो, अत: मैं तुम्हारा अद्‌भुत प्रकार से आतिथ्य सत्कार करने के लिए तैयार हूं।"

उस समय नारायण ऋषि ने मन में विचार किया, कि इन्द्र ने हमारे तप में विघ्न उपस्थित करने के विचार से ही इन्हें यहां भेजा है, किन्तु इन बेचारी नगण्य अप्सराओं से हमारा क्या बनना-बिगड़ना है। मैं अभी इन सबको आश्चर्य में डालने वाली नई अप्सरा की सृष्टि करता हूं। इन अप्सराओं की अपेक्षा उसके रूप-सौन्दर्य विलक्षण होंगे। इस प्रकार मन में निश्चय कर नारायण ऋषि ने अपना हाथ अपनी जंघा पर पटका और तत्क्षण एक षोडश वर्षीया सर्वांग सुन्दरी नवयौवना को उत्पन्न कर दिया।

उस षोडश वर्षीया, सुन्दर, स्वस्थ, यौवन की आभा से दीप्त तरुणी का अण्डाकार मुखमण्डल यौवन, प्रेम तथा सौन्दर्य से गुलाबी हो रहा था, उस पर गहरी झील सी आंखें अद्वितीय प्रतीत हो रही थीं। उसके होंठ ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानों दो गुलाबी पंखुड़ियों को एक-दूसरे पर रख दिया गया हो और चिबुक के छोटे से गड्ढे में समस्त संसार का यौवन कूद पड़ने को आतुर था।

हंसिनी ग्रीवा तथा मांसल, पुष्ट, कठोर, उन्नत उरोज ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानों दो ऋषि खड़े हो कर सूर्य को अर्घ्य दे रहे हैं। उरोजों पर कस कर पीली रेशमी कढ़ी हुई चोली बंधी हुई थी।

उदर पीपल के पत्ते जैसा चिकना व पतला था, नाभि प्रदेश त्रिवली युक्त विशेष प्रकार के गठन से युक्त था तथा उसने नाभि के नीचे नील वर्णीय परिधान घुटनों तक धारण कर रखा था। उसकी जंघाएं हस्ति सुण्ड की भांति थीं, जो कि रोमरहित तथा अत्यधिक चिकनी थीं। उसके सिर के केश काले घने और लम्बे थे, जो कि जंघाओं को चूम रहे थे। नितम्ब अत्यधिक गठे हुए, सुडौल, मांसल, पुष्ट व चक्राकार थे। पैरों की पायलों में छोटे-छोटे घुंघरू बंधे होने के कारण पैर अत्यधिक सुन्दर व आकर्षक लग रहे थे। यौवन भार से झुका हुआ उसका शरीर ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानों वह अपने रूप, यौवन और सौन्दर्य से सम्पूर्ण विश्व को पराजित करना चाह रही है।

उसके इस अद्वितीय सौन्दर्य को निरख कर काम और रति तथा समस्त अप्सरायें लज्जित हुईं। नारायण ऋषि के उरु भाग से निकलने तथा सबके हृदय में बसने के कारण वह 'उर्वशी' के नाम से विख्यात हुई।

उर्वशी साधना

उर्वशी प्रेम, उल्लास, यौवन, जीवन, प्रसन्नता, आनन्द, खिलखिलाहट का ही नाम है। जब व्यक्ति समाज के बंधनों को ढोता हुआ थक जाता है, तो वह अपने जीवन में कुछ परिवर्तन चाहता है, जिसके माध्यम से वह जीवन में मधुरता, चैतन्यता, जीवन्तता प्राप्त कर ले और उर्वशी साधना का अर्थ ही यही है।

साधक **7.6.97** को या किसी भी **शुक्रवार** के दिन से यह साधना करें। इसके लिए आवश्यक सामग्रियों —**'उर्वशी यंत्र'** तथा **'उर्वशी माला'** — को पहले से ही प्राप्त कर रख लें। साधक स्वयं गुलाबी वस्त्र धारण करें तथा सुगन्धित द्रव्य लगायें। साधना कक्ष को सुगन्धित अगरबत्ती से सुगन्धित बना दें। यह साधना रात्रि काल में ही सम्पन्न करें।

लकड़ी के बाजोट पर गुलाबी वस्त्र बिछा दें, उस पर कुंकुंम से अष्टदल कमल बना कर उस पर उर्वशी यंत्र को स्थापित करें। यंत्र के समक्ष घी का दीपक लगा दें।

यंत्र व माला का पूजन अष्टगंध, अक्षत तथा गुलाब के पुष्पों से करें; फिर माला को अपने हाथ में ले कर उसे घुमाते हुए निम्न मंत्र बोलें —

ॐ माले माले महामाले! सर्व तत्त्व स्वरूपिणी।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान् मे सिद्धिदा भव।।

फिर निम्न मंत्र का 51 माला मंत्र जप करें —

मंत्र

।।ॐ ह्रौं उर्वशी वशीकरणाय फट्।।

OM HROUM URVASHI VSHIKARNAAY PHAT

मंत्र जप के पश्चात् साधना स्थल पर ही विश्राम करें।

अगले दिन यंत्र तथा माला को बाजोट पर बिछे गुलाबी वस्त्र में बांध कर प्रवाहित कर दें।

न्यौछावर — 260/-